

॥ अथ पञ्चमोऽध्यायः ॥

अनुशासन-अनुबंध प्रकरण

पञ्चमे दिवसे तत्र निश्चिते समये पुनः ।

ज्ञानगोष्ठी समारब्धा सत्संगसमयोद्भवा ॥ १ ॥

जिज्ञासवः समे स्वानि चासनानि तु भेजिरे ।

प्रेरणा भावबोधिन्यो लभ्यन्ते प्रतिपादनैः ॥ २ ॥

प्रतिपादनमाश्रुत्य सर्व सर्वे व्यधुश्च तत् ।

हृदयंगममेतेऽत्र संगताः पुरुषाः स्वयम् ॥ ३ ॥

टीका—पाँचवे दिन संत समागम की ज्ञानगोष्ठी नियत निर्धारण के अनुसार निश्चित समय पर आरंभ हुई। सभी जिज्ञासुओं ने अपने-अपने आसन सँभाले। प्रवचन-प्रतिपादनों से सभी को भावभरी प्रेरणाएँ मिल रही थीं। सभी प्रतिपादनों को सुनने के साथ-साथ गंभीरतापूर्वक हृदयंगम भी कर रहे थे ॥ १-३ ॥

उद्दालक उवाच

देवधर्मस्य श्रुत्वेतद् युगमयोऽस्तु विवेचनम् ।

आनन्दः परमः प्राप्तः समैरस्माभिरुत्तमः ॥ ४ ॥

तत्पालनाय सर्वेषामुत्साहः समुदेति च ।

वचोऽमृतमिदं नव्यं जीवनं नः प्रयच्छति ॥ ५ ॥

प्रकाशमपि, तद् युगं तृतीयं कृपया भवान् ।

प्रकाशयतु संबंधः कोऽनुबंधस्य चास्य तु ॥ ६ ॥

अनुशासनस्य मध्ये स भिन्नता का च विद्यते ।

व्यवहारोपयोगी च बोधो धर्मस्य स्यादयम् ॥ ७ ॥

टीका—उद्दालक बोले, हे देव धर्म के दो युगों की विवेचना सुनकर हम सब को बड़ा आनंद प्राप्त हुआ है। उनके परिपालन में सभी को भारी उत्साह उमड़ रहा है। आपके अमृत वचन हम सबको नया जीवन नया प्रकाश दे रहे हैं। अब कृपा कर तृतीय युग पर प्रकाश डालें और बताएँ कि अनुशासन और अनुबंध का परस्पर क्या संबंध है? उनके बीच भिन्नता क्या है, जिससे धर्म का व्यवहारोपयोगी बोध हो जाए ॥ ४-७ ॥

आश्वलायन उवाच

अनुशासनमत्राहुर्गुणं सामाजिकं बुधाः ।

सभ्यता शब्दितोऽप्येतदनुबंधस्तथास्ति सः ॥ ८ ॥

गुणस्त्वांतरिको यां च संस्कृतिं कथयन्त्यपि ।

सुसंस्कारित्वशब्देन जना जानंति कुत्रचित् ॥ ९ ॥

द्विधैतयोः प्रयोगस्तु क्षेत्रयोर्भवति द्वयोः ।

एकमुद्गममूलं तु द्वयोरेवास्ति वस्तुतः ॥ १० ॥

टीका—श्री आश्वलायन ने कहा विद्वानों ने अनुशासन को सामाजिक गुण कहा है और इस बाह्य अनुबंध को सभ्यता के नाम से भी जाना जाता है। इसका दूसरा रूप आंतरिक गुण के रूप में होता है, जिसे सुसंस्कारिता या संस्कृति के नाम से जाना जाता है। इनके प्रयोग तो दोनों क्षेत्रों में दो प्रकार से होते हैं, पर उनका मूल उद्गम एक ही है ॥ ८-१० ॥

व्याख्या—धर्म के तृतीय युग के रूप में यहाँ पर सभ्यता अनुशासन के रूप में बहिरंग में कार्य करने वाले एवं संस्कृति

अनुबंध के रूप में अंतरंग में क्रियाशील दो गुणों की चर्चा की गई है। सभ्यता एक प्रकार का बाह्य अनुबंध है एवं संस्कृति एक प्रकार का आत्मानुशासन। इस प्रकार दोनों ही एक दूसरे के पूरक एवं मिलकर समग्र बनते हैं। इन दोनों का मूलभूत स्तोत्र एक ही है। शब्दों के रूप में इन्हें चाहे जिस तरह अभिव्यक्ति दी जाए, व्यक्तित्व को निखारने उसे पूर्ण मानव के रूप में विकसित करने के लिए इन दोनों ही गुणों को अपरिहार्य माना गया है।

अनुबंध की व्याख्या करते हुए उसे अंतः से उद्भूत अनुशासन बताया गया है। संस्कृति, जो संस्कारों का अभिवर्द्धन कर अंतःक्षेत्र को प्रखर बनाती है, इसी का पर्यायवाची शब्द है। सभ्यता बहिरंग से निभने वाला अनुशासन है, अंतः की बाहर अभिव्यक्त होने वाली प्रतिक्रिया है। इस प्रकार मोटे तौर से दोनों ही गुण एक ही मूल से उपजने वाले वृक्ष की दो शाखाएँ हैं।

सुसंस्कारिता को किसी भी वर्ग, समाज, देश या संस्कृति का मेरुदंड कहा जा सकता है। इसके अभाव में बाह्योपचार निरर्थक है। सारा वैभव इसके न होने की स्थिति में धूल के समान हो जाता है। कितने ही समूह बाहर से संपन्न पर संस्कारों की दृष्टि से खोखले नजर आएँ तो समझना चाहिए कि यह वैभव क्षणिक है। अंदर का शून्य बाहर भी विपन्नता उपजा कर छोड़ेगा। यह भी उचित ही कहा गया है कि सभ्यता अथवा अनुशासन आंतरिक अनुबंध सुसंस्कारिता के पूरक हैं। दोनों का सह अस्तित्व एक-दूसरे के कारण है, यद्यपि दोनों के कार्य क्षेत्र अलग-अलग हैं।

अनुशासन मर्यादापालन को कहते हैं और अनुबंध आत्मसंयम के लिए किए गए पुरुषार्थ को। मनुष्यता को स्वतंत्रता तो मिली है। वह स्वेच्छा से कुछ भी भला-बुरा कर सकता है, किंतु धर्म-धारणा ने उस पर सन्मार्ग में ही चलते रहने हेतु अनुशासन के अंकुश भी लगाए हैं। किंतु अंकुश के बिना वह सही रास्ते पर चलता नहीं। स्वच्छंद होने की स्थिति में कहीं भी भटकता है, पर जब महावत का अंकुश अनुशासन उसकी गतिविधि को नियंत्रित करता और अभीष्ट दिशा में चलने का मार्गदर्शन करता है, तभी उसकी क्षमता का सही उपयोग होता है। उसके बिना वह उच्छृंखलता अपनाकर विनाशकारी घटनाक्रम भी खड़े कर सकता है। हर समाज, वर्ग, समूह के लिए ऋषिगणों ने बाह्य मर्यादाओं, वर्जनाओं एवं संस्कार रूपी आत्मानुशासन का प्रावधान यही सोचकर किया है कि मनुष्य स्वभावतः उच्छृंखल है। उसे नियंत्रित रखने एवं आत्मिक प्रगति के पथ पर बढ़ाने हेतु इस प्रकार का सीमा बंधन अनिवार्य है। देव संस्कृति की यह विशेषता अपने आप में अनुपम है।

शालीनता समुद्भूतं द्वयमेवेति मन्यताम्।
यथाऽऽदर्शान् प्रति त्वास्था सद्भावः सद्विचारणाम् ॥ ११ ॥
तत्रोदयं समायातो यत्रोत्कृष्टं च चिंतनम्।
अपरान् प्रति सम्मानभावना यत्र चात्मनि ॥ १२ ॥
सौजन्यस्य समारोहस्तत्रैवैतत्तु संभवेत्।
कर्तव्यपालनं नूनं नागराणां न चान्यथा ॥ १३ ॥
निर्वहेच्च सदाचारस्तत्र चाप्यनुशासनम्।
व्यवहारे समागच्छेत् सभ्यता शब्दितं तु यत् ॥ १४ ॥
संभवेच्छलयुक्तं न नाटकीयस्य वस्तुतः।
सौजन्यस्य च पाखण्डं झटिति प्रकटं भवेत् ॥ १५ ॥

टीका—दोनों ही शालीनता के उत्पादन हैं। जहाँ आदर्शों के प्रति आस्था होगी, वहाँ सद्भावना, सद्विचारणा पनपेगी। जहाँ उत्कृष्ट चिंतन चल रहा होगा, दूसरे के प्रति सम्मान का भाव होगा, अपने में सज्जनता का आरोपण रहा होगा, वही नागरिक कर्तव्यों का परिपालन बन सकेगा। वहीं शिष्टाचार निभेगा और सभ्यता के रूप में जाना जाने वाला अनुशासन अपनाया जा सकेगा, यह छलपूर्वक नहीं हो सकता। नाटकीय सज्जनता का पाखंड प्रकट होने में देर नहीं लगती ॥ ११-१५ ॥

सभ्यता का व्यवहार सुसंस्कारिता के बलबूते ही बन पड़ता है। जैसा अंतरंग होता है वैसा ही बहिरंग में परिलक्षित होता है। कोई यह चाहे कि वह बाहर से साज सज्जा एवं वेशभूषा से स्वयं को सभ्य सम्माननीय बना ले तो भी उसका अंतरंग उसके चिंतन के अनुरूप होने के कारण, वह व्यवहार में कहीं न कहीं अपनी झलक दिखा ही देगा। उच्चस्तरीय भाव परक चिंतन की परिणति सभ्य अनुशासित व्यवहार के रूप में होती है। आदर्शनिष्ठा सदैव अच्छे आचरण, दूसरों के प्रति परमार्थ पारायणता, पर-दुःख कातरता, एकात्मभाव के रूप में परिलक्षित होती है। अंतः की सुसंस्कारिता कभी भी अंतः तक ही सीमित होकर नहीं रह जाती। चिंतन श्रेष्ठ हो एवं व्यवहार में उसका कोई प्रतिबिंब न झलके तो उस चिंतन से क्या लाभ? सुसंस्कारिता, सदाचार, सभ्य व्यवहार, कर्तव्य पारायणता को जन्म दे तो ही उसकी सार्थकता है। इस प्रकार संस्कृति व सभ्यता एक दूसरे से अन्योन्याश्रित रूप से संबद्ध हैं।

प्रयासाऽऽसादितो यस्तु शिष्टाचारः स जायते।

अल्पेऽपि प्रातिकूल्ये तु विशीर्णत्वं स्वतः क्षणात् ॥ १६ ॥

टीका—सीखा हुआ शिष्टाचार, तनिक सी प्रतिकूलता पड़ते ही अस्त-व्यस्त हो जाता है ॥ १६ ॥

व्याख्या—बाह्य जगत का लोकाचार जिस नींव पर टिका है वह है आत्मानुशासन संस्कारों की श्रेष्ठता, आदर्शनिष्ठा। ऐसे लोकाचार में स्थिरता होती है। मात्र प्रदर्शन के लिए किए

२.३० प्रज्ञोपनिषद्

जाने वाले आडंबर तो क्षणिक होते हैं, थोड़ी सी चमक भर दिखाकर तिरोहित हो जाते हैं। दुनिया की यह रीति है कि यहाँ बहिरंग को अधिक प्रधानता दी जाती है। जो दूरदृष्टि संपन्न विवेकशील होते हैं, अंतरंग की सुसंस्कारिता को ही दृष्टि में रखकर व्यक्ति का तदनुसार मूल्यांकन करते हैं। यदि शिष्टाचार शिक्षण द्वारा अभ्यास में आ गया तो भी उसकी जड़ें मजबूत बनाना चाहिए। उथलेपन की विडंबना से बचना चाहिए।

यथार्थत्वं गभीरत्वं यत्र तत्र समापतेत्।

झञ्झावातोऽपि चेत्तर्हि सदाचारतरुर्दृढः ॥१७॥

न भवेच्चलमूलः सस्थिरता तत्र पूर्ववत्।

पारम्पर्येण संस्कार-निर्मितिर्युज्यते त्वतः ॥१८॥

टीका—जहाँ यथार्थता और गंभीरता होती है, वहाँ आँधी-तूफान आने पर भी सद्व्यवहार रूपी परिपुष्ट वृक्ष की जड़ें हिलती नहीं। स्थिरता यथावत् बनी रहती है। अतः संस्कारों को पैदा करने की परम्परा बनाये रखनी चाहिए ॥१७-१८॥

व्याख्या—संस्कारों को व्यवहार में समाविष्ट करके ही कोई व्यक्ति सुसंस्कृत कहलाया जा सकता है। महामानवों की यही रीति-नीति रही है। वे वास्तविकता एवं गंभीर आदर्शवाद में विश्वास रखते हैं। न तो स्वयं हवा में उड़ते हैं, न दूसरों को इसके खाब दिखाते हैं। अंतः में दृढ़ता से जमे संस्कार व्यक्ति को प्रखर तेजस्वी मनस्वी बनाते हैं। ऐसे व्यक्ति जो कहते हैं, वह प्रभावकारी होता है। कथनी व करनी में अन्तर न होने से वे सहज ही सभी के लिए अनुकरणीय बन जाते हैं। महामानव प्रगति का समापन किसी बिन्दु विशेष को न मानकर सतत संस्कार अभिवर्धन की, आदर्शवादिता को अंतः में समाविष्ट करते रहने को अपनी परम्परा सतत चलाए रखते हैं। उनका जीवन जीती-जागती किताब बन जाता है। वह बताता है कि किसी को भी ऊँचा उठना हो, तो उसे पहले अपनी जड़ें मजबूत बनाना चाहिए। उथलेपन की विडम्बना से बचना चाहिए।

संबंधे संस्कृतेरेतद् विद्यते साऽऽत्मनिर्भरा।

भवति स्वगरिम्णस्तु द्रष्टारः सम्मुखे स्थिताः ॥ १९ ॥

नराः किं कुर्वन्ते नैतज्जातु पश्यन्ति कुत्रचित्।

अशुभेषु शुभेष्वेते संति कालेषु मानवैः ॥ २० ॥

भिन्नप्रकृतिभिर्योगे स्वीकृष्ट्यं प्रतिनिर्भराः।

झञ्झावाते न जायन्ते विशुद्धा गिरयश्चला ॥ २१ ॥

टीका—संस्कृति की यह विशेषता है कि यह आत्मनिर्भर होती है। अपनी गरिमा का बोध रखने वाले यह नहीं देखते कि सामने वाले क्या करते हैं। वे भले और बुरे अवसरों पर विपरीत प्रकृति के व्यक्तियों से पाला पड़ने पर भी अपनी उत्कृष्टता के संबंध में आत्मनिर्भर रहते हैं। बवंडर आने पर

भी पर्वत न तो हिलते हैं और न विक्षुब्ध विपन्न होते हैं ॥ १९-२१ ॥

व्याख्या—अनुकूलताएँ-प्रतिकूलताएँ जीवन में सदैव आती रहती हैं। किंतु इन झंझावातों से अप्रभावित बने रहकर आदर्शनिष्ठ व्यक्ति प्रयास-पुरुषार्थ में सतत निरत रहते हैं। वे इन क्षणिक परिवर्तनों से विचलित नहीं होते। उन्हें अपने सुदृढ़ संस्कारों के कारण स्वयं पर, अपने श्रेष्ठता के समर्थक चिंतन पर विश्वास होता है एवं वही उन्हें सारी कठिनाइयों से उबारकर महानता के पथ पर ले जाता है।

श्रेष्ठतानां समाजस्था मर्यादा अनुशासनम्।

उच्यते पालनीयं तत्सर्वैरेव च मानवैः ॥ २२ ॥

अनुशासनजा नूनं व्यवस्था स्थिरता ततः।

प्रगतिः स्थिरताहेतोः समागच्छति च क्रमात् ॥ २३ ॥

टीका—श्रेष्ठता की समाजगत मर्यादाओं को अनुशासन कहते हैं। वह सभी के लिए पालने योग्य है। उसके प्रति किसी को उपेक्षा या अवज्ञा नहीं बरतनी चाहिए। अनुशासन से व्यवस्था चलती है। व्यवस्था से स्थिरता रहती और प्रगति होती है ॥ २२-२३ ॥

व्याख्या—समाज की सुव्यवस्था का मूलभूत आधार है निर्धारित अनुशासनों का परिपूर्ण निष्ठा के साथ निर्वाह। न्याय एवं प्रशासनिक विभाग शासन तंत्र की ओर से इस कार्य को निभाते हैं। वे नागरिकों को इस बात का आश्वासन देते हैं कि समूहगत व्यवस्था में कहीं ढील न आने दी जाएगी। जहाँ भी कहीं वर्जनाओं का उल्लंघन होगा, वहाँ समुचित दंड का भी प्रावधान होगा।

जहाँ तक समाज का नागरिक स्तर पर प्रश्न उठता है, वह जन-जन के मन में संव्याप्त अनुशासन पर निर्भर है। सामाजिक बंधनों से कोई भी मुक्ति नहीं है। वे सबके ऊपर समान रूप से लागू होते हैं। किसी भी समूह, समाज या तंत्र की व्यवस्था का मूल है हर एक के मन में अनुशासन की जिम्मेदारी की भावना का विकसित होना। राष्ट्रीय चरित्र का यही मापदंड है कि वहाँ के नागरिक अपने कर्तव्यों के प्रति कितने सचेत हैं। किसी ने उनके लिए क्या किया, इससे अधिक महत्वपूर्ण यह है कि वे समाज एवं राष्ट्रगत वर्जनाओं का पालन करते हैं, अथवा नहीं।

उद्धता शिक्षिता मर्त्याः स्वाहंकारसमुद्भवम्।

कुसंस्कारत्वमाश्रित्योच्छृङ्खलत्वं चरन्त्यलम् ॥ २४ ॥

फलतस्तु सहन्ते ते दुःखान्यन्येभ्य एव च।

भवन्ति दुःखदा नीचैः पतंतः पातयन्त्यपि ॥ २५ ॥

अनुशासनहीनत्वात् विशीर्णत्वमुपैति यत्।

तस्मात्संपन्नता नश्येत् सामर्थ्यं सहैव तु ॥ २६ ॥

अपेक्षया च लाभस्य ततो दृश्यं तु दुःखदम्।

प्रत्यक्षतामुपैत्येवं पश्चात्तापोऽवशिष्यते ॥ २७ ॥

टीका—उद्धत अनगढ़ लोग अपनी अहंता की कुसंस्कारिता से प्रेरित होकर उच्छृंखलता बरतते हैं। फलतः स्वयं गिरते और दूसरों को गिराते हैं। अनुशासनहीनता से जो बिखराव उत्पन्न होते हैं, उसके कारण उपलब्ध समर्थता एवं संपन्नता बुरी तरह नष्ट-भ्रष्ट हो जाती है और उनके द्वारा लाभ के स्थान पर हानि का दुःखदाई दृश्य ही सामने आता है एवं पश्चात्ताप ही शेष रहता है ॥ २४-२७ ॥

व्याख्या—समाज समग्ररूप में एक अनुशासनबद्ध तंत्र है। मनुष्य उसकी एक इकाई है। किसी भी भवन का यदि एक भाग कमजोर होता है तो वह शीघ्र ही गिर जाता है। लकड़ी में लगी घुन शहतीर को खोखला कर उसे टूटने को विवश कर देती है। इस पर टिकी बुनियाद कमजोर ही होती है। सेना के सिपाही एक होकर जब लड़ते हैं तो सामने वालों के छक्के छुड़ा देते हैं। अनियंत्रित युद्ध करें तो मुट्ठी भर व्यक्ति ही इन पर काबू पा सकते हैं।

समाज तंत्र पर भी यही बात लागू होती है। अहमन्यता व्यक्ति को उद्धत बना देती है एवं वे सभ्यता की अपनी वर्जनाएँ भूलकर जो व्यवहार करते हैं, अंततः वह उनके एवं सारे समूह-समाज के विनाश का कारण बनता है। झाड़ू की सीकें जब तक एक साथ बँधी हैं, तब तक उपयोगी भी हैं। एक बार अलग होने पर वे कूड़े में फेंकने लायक रह जाती हैं। मनुष्य समर्थ है, सर्वगुण संपन्न है, किंतु अनुशासन के अभाव में वह एक उच्छृंखल वन में घूमते शेर के समान है। संस्कारवश उत्पन्न अनगढ़ता और चिंतन में समाई अहंता उनकी सामर्थ्य को भी क्षीण कर डालती है एवं ऐसे व्यक्ति अंततः दुःख के कारण बनते हैं। इन्हें जानना-पहचानना व इनके सुधार के प्रयास करना बहुत अनिवार्य है ताकि समाज की व्यवस्था सुचारु रूप से चलती रहे, सभी सुख-शांतिपूर्वक एक साथ रह सकें।

सृष्टिस्थितौ हि सर्वत्र व्यवहारोऽभिजायते।

अनुशासनजः सर्वे निर्जीवा जीविनोऽथवा ॥ २८ ॥

ग्रहाः पदार्थाः पिंडाद्या वनस्पति-समा अपि।

अनुशासनसंबद्धाः स्थिराः संत्यात्मसत्तया ॥ २९ ॥

एषु येऽपि च गृह्णन्ति स्वेच्छाचारं ब्रजन्ति ते।

विनाशं स्वयमन्येभ्यो विपत्तिर्भावयंत्यपि ॥ ३० ॥

टीका—सृष्टि व्यवस्था में सर्वत्र अनुशासन ही बरता जा रहा है। ग्रहपिंड, पदार्थ, वनस्पति तथा सजीव-निर्जीव सभी सृष्टि व्यवस्था के अनुशासन में जकड़े रहकर ही अपनी सत्ता बनाए हुए हैं। इनमें से जो भी स्वेच्छाचार बरतता है, वह स्वयं तो नष्ट होता ही है, दूसरों के लिए भी विपत्ति खड़ी करता है ॥ २८-३० ॥

व्याख्या—मनुष्य की काया से लेकर जीव-जंतु समुदाय तक, पदार्थों में दौड़ लगाते अणु-परमाणु समूहों से लेकर ब्रह्मांडव्यापी ग्रह-नक्षत्रों तक तथा विराट प्रकृति के अनन्य घटक वृक्ष-वनस्पति समुदाय में एक ही एकात्म भाव समाया हुआ है। वह है समष्टिगत अनुशासन का। कोई भी क्रिया व्यापार अनुशासन की परिधि से बाहर नहीं है। यदि ऐसा न होता तो सारी सृष्टि में अराजकता की स्थिति आ गई होती एवं विधाता का सारा सिराजा बिखरा गया होता। इसका दूसरा पक्ष भी उतना ही सही है। जो भी इस नियम को तोड़ता एवं प्रकृति व्यवस्था के प्रतिकूल आचरण करता है, उसे स्वयं दंड भुगतना पड़ता है। बिगाड़ से अव्यवस्था उत्पन्न कर समूह के अन्य घटकों के लिए तो विपदा वह उत्पन्न कर ही जाता है।

अनुशासनपराश्चात्र संयुक्तां सैनिका निजाम्।

परिचाययन्ति शक्तिं ते लोके मान्या भवन्ति च ॥ ३१ ॥

टीका—सैनिक अनुशासन पालते और संयुक्त शक्ति का परिचय देते हैं, इसी से सभी पर उसकी धाक रहती है ॥ ३१ ॥

जीवन क्षेत्र में भी अनुशासन पालन करने वाले अपनी धाक जमाएँ और दूसरों पर छाएँ रहते हैं। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण गाँधी जी थे।

लघवः कीटका ताश्च चीटिका मधुमक्षिका।

वल्मीककृमयश्चापि तेऽनुशासनगौरवम् ॥ ३२ ॥

जानन्ति मानवा एव ततः किं ज्ञानशीलताम्।

परित्यज्य हि स्वीकुर्युर्गौच्छृंखल्यमनीप्सितम् ॥ ३३ ॥

अपमानं गरिष्ठो यत्तस्य नूनं च विद्यते।

व्यवहारे नात्ममानी तत्कदाचिन्नियोजयेत् ॥ ३४ ॥

टीका—चींटी, दीमक तथा मधुमक्खी जैसे छोटे कृमि-कीटक अनुशासन का महत्त्व समझते हैं, फिर मनुष्य ही क्यों अपनी विवेकशीलता खोकर अनभीष्ट उच्छृंखलता बरते। यह उसकी गरिमा का अपमान है, जिसे कभी भी आत्मसम्मान को अपने व्यवहार में सम्मिलित नहीं होने देना चाहिए ॥ ३२-३४ ॥

व्याख्या—यहाँ पशुपक्षियों जीवजंतुओं के उदाहरणों द्वारा प्रकृतिगत अनुशासन की महत्ता बताते हुए मनुष्य के लिए तो उसे अनिवार्य बताया ही गया है। मनुष्य जीवधारी समुदाय में सर्वश्रेष्ठ बुद्धि संपन्न प्राणी माना जाता है। उससे तो विधाता की अपेक्षाएँ और भी अधिक हैं।

सम्मानं नृगरिष्ठाः सा ह्यनुशासनसंसृतिः।

अनुशासिताः समर्थाः स्युरन्याश्चाप्यनुशासितान् ॥ ३५ ॥

टीका—अनुशासन पालना मानवी गरिमा का सम्मान है। जो अनुशासन पालते हैं, वे ही दूसरों को अपने अनुशासन में

२.३२ प्रज्ञोपनिषद्

रख सकने में समर्थ होते हैं ॥ ३५ ॥

व्याख्या—स्वयं अपने पर अनुशासन निभा पाने में ही वह समर्थता विकसित हो पाती है, जिससे वह अन्य व्यक्तियों के लिए अनुकरणीय बनता है। जीवन की दैनंदिन गतिविधियों में इसका कितना समावेश हुआ, इसी पर समर्थन-सहयोग एवं जन सम्मान निर्भर है।

कर्तुमुच्छृंखला ये तु स्वयं तादृक् प्रतिक्रियाः ।

अयोग्या सम्मुखे तेषामुपयांति सुपीडकाः ॥ ३६ ॥

प्रकृतेरनिवार्येयं दंडदानव्यवस्थितिः ।

श्रमं कर्तुं विशीर्णां तां नाह्वयेन्नाशमात्मनः ॥ ३७ ॥

टीका—उच्छृंखलता अपनाने वालों को बदले में वैसी ही अनुपयुक्त प्रतिक्रिया का सामना करना पड़ता है। प्रकृति की दंड व्यवस्था अपरिहार्य है, उसे अस्त-व्यस्त करने के प्रयत्न अपनाकर सर्वनाश करने की मूर्खता किसी को नहीं करनी चाहिए ॥ ३६-३७ ॥

लोकसेवां समाश्रित्याऽनृणः सामाजिकादृणात् ।

मर्यादैवास्ति पूता च वानप्रस्थपरंपरा ॥ ३८ ॥

प्रामाणिकत्वमाप्तुं च नीतिमत्ता समीहिता ।

अनिवार्यतया चात्र चरित्रे तु कलंकता ॥ ३९ ॥

पवित्राणां तथा तासां मर्यादानां विलंघनम् ।

कुरुतो दुर्बलं मर्त्यमविश्वस्तो भवेच्च सः ॥ ४० ॥

टीका—लोकसेवा अपनाकर समाज ऋण से उन्मूढ होना मर्यादा होता है। वानप्रस्थ पुनीत परंपरा है। प्रामाणिकता अर्जित करने के लिए नीतिवान होना आवश्यक है। चरित्र पर उँगुली उठाने एवं पवित्र मर्यादाओं का उल्लंघन करने वाला मनुष्य भीतर से दुर्बल पड़ जाता है और उसका विश्वास चला जाता है। ३८ ॥ ४० ॥

व्याख्या—मर्यादा, अनुशासन व्यवस्था इन सबकी परिधि बड़ी विस्तृत है। व्यक्ति को स्वयं पर तो अंकुश लगाना ही पड़ता है, स्वयं को चरित्रवान बनाना पड़ता है, अपने पुरुषार्थ-साधन को सत्कार्यों में नियोजित भी करना पड़ता है। अंतः से उद्भूत सुसंस्कारिता-व्यवहार में अनुशासन एवं निष्ठा निष्ठा परमार्थ परायणता के रूप में सार्थक बनती है। दोनों ही एक दूसरे के बिना अधूरे हैं।

कुरीतीनां तथैवान्धक्रमाणां च विरोधिता ।

अन्यरूपोपयुक्तानां व्यवस्थानामिह स्वयम् ॥ ४१ ॥

सामाजिकानां दुर्वृत्योल्लंघनस्य प्रदर्शनम् ।

अन्यदेव चरित्रेण युक्तो भवति शक्तिमान् ॥ ४२ ॥

मर्यादापालको मर्त्यः पुरुषोत्तम उच्यते ।

असामान्यं बलं तस्याऽसामान्यश्च पराक्रमः ॥ ४३ ॥

टीका—कुरीतियों का अंध परंपराओं का विरोध करना एक बात है और उपयुक्त समाज व्यवस्थाओं का उल्लंघन

करने में उच्छृंखलता दिखाना सर्वथा दूसरी। चरित्रवान ही शक्तिवान होता है। जो मर्यादाओं का परिपालन करता है, उसे पुरुषोत्तम कहते हैं। उसका बल-पराक्रम असाधारण होता है ॥ ४१-४३ ॥

व्याख्या—ऐसा व्यक्ति छोटा हो, तो भी उसकी प्रामाणिकता ही उसे वजनदार बना देती है। सच बात कहने में वे हिचकते नहीं।

धर्मयुग्मे तृतीये च शास्त्रकारैस्तु मानितः ।

अनुशासनवश्योऽयमनुबंधो महत्त्ववान् ॥ ४४ ॥

आत्मानुशासनं ह्येतद् व्यवहार्य निजेच्छया ।

कृत्यप्रकृतिसंबन्धे विचाराकांक्षयोरपि ॥ ४५ ॥

सामाजिकावृतौ सत्यामपि क्षेत्रस्य चास्य तु ।

औत्कृष्ट्यावरणं कार्यं स्वयमेव नैरिह ॥ ४६ ॥

टीका—धर्म के तृतीय युग में शास्त्रकारों ने अनुशासन की तरह ही अनुबंध को भी महत्त्व दिया है। यह आत्मानुशासन है, जो अपनी आकांक्षाओं, विचारणाओं, गतिविधियों तथा आदतों के संबंध में स्वेच्छापूर्वक बरता जाता है। सामाजिक दबाव होते हुए भी उस क्षेत्र की उत्कृष्टता का वरण स्वयं ही करना होता है ॥ ४४-४६ ॥

व्याख्या—स्वेच्छा से अपने ऊपर लागू किया गया अनुशासित जीवन क्रम इतना सरल नहीं है, जिसे सहज अपनाया जा सके। समाज-व्यवस्था, प्रचलन, रीति-रिवाज एवं तत्कालीन प्रवाह के दबाव जैसे प्रतिरोधों से जुझते हुए कसौटी पर खरे उतरना एक बहुत बड़ा पुरुषार्थ है। क्या उचित है, क्या अनुचित, इसकी काट-छाँट करते हुए श्रेष्ठता का चयन खुद ही करना पड़ता है। इतना विवेक जिसका जागृत हो, वही महामानव बनने की दिशा में आगे बढ़ सकने की पात्रता रखता है।

महतां मानवानां तु व्यवहारोऽथ चिंतनम् ।

अंतःस्थितौ प्रेरणायां यातो निर्भरतां सदा ॥ ४७ ॥

गृह्णन्ति श्रेष्ठता - मात्रमनीप्सितमिमं क्षणात् ।

पराङ्मुखं प्रकुर्वन्ति विकृतिं यान्ति नो ततः ॥ ४८ ॥

टीका—महामानवों का चिंतन तथा व्यवहार अंतः की स्थिति तथा प्रेरणा पर निर्भर रहता है। वे दूसरों से मात्र श्रेष्ठता की प्रेरणाएँ ही ग्रहण करते हैं। अवांछनीयता के आरोपण को वे तत्काल वापस लौटा देते हैं, इसी से वे विकृत स्थिति में नहीं पहुँचते हैं ॥ ४७-४८ ॥

व्याख्या—जैसी अंदर से उद्भूत प्रेरणाएँ होती हैं वैसा ही बाह्य जीवन क्रम ढल जाता है। श्रेष्ठता पर भी मापदंड लागू होता है। महामानव बनने की उमंग अंतः से तो जन्मती ही है, प्रचलन प्रवाह से संव्याप्त उत्कृष्ट प्रेरणाओं के चयन पर भी यह निर्भर करता है कि कौन किस स्तर तक विकसित है।

मात्र उचित का चयन एवं अवांछनीय का निरस्तीकरण ही महामानवों के जीवन की रीति-नीति होनी चाहिए।

आनुकूल्यं प्रपश्यन्ति जीवात्मपरमात्मनोः।

केवलं तेन संतुष्टाः तिष्ठन्त्यात्मरताः सदा ॥ ४९ ॥

ध्यानं ददति निन्दायां स्तुतौ वा ते यदात्मिने।

न्यायनिष्ठैः कृते स्यातामपक्षैश्च विवेकिभिः ॥ ५० ॥

विवेकहीनाः पश्यन्ति स्वानुरूपान् समानपि।

निन्दन्ति वा प्रशंसन्ति निःसारां दृष्टिमाश्रिताः।

तन्न ध्यायन्ति विज्ञास्तु जायन्ते न प्रभाविताः ॥ ५१ ॥

टीका—वे मात्र आत्मा और परमात्मा की अनुकूलता का ही ध्यान रखते हैं और इतना बन पड़ने से ही पूर्ण संतुष्ट रहते हैं। निन्दा स्तुति पर वे तभी ध्यान देते हैं, जब वह निष्पक्ष, विवेकवान और न्यायनिष्ठों द्वारा की गई हो। अविवेकी तो अपने अनुरूप सबको देखते हैं और उथला दृष्टिकोण अपनाकर निन्दा या प्रशंसा करते हैं, उस पर विज्ञान न तो ध्यान देते हैं और न प्रभावित होते हैं ॥ ४९-५१ ॥

व्याख्या—निन्दा विवेकवान की ग्राह्य है, क्योंकि उससे उचित-अनुचित का पता चलता है। अनर्गल प्रलाप करने वालों की संसार में कोई कमी नहीं। उन पर न तो ध्यान देने की आवश्यकता है, न ही स्वयं के चिंतन को असंतुलित होने देने की। महामानवों की सबसे बड़ी विशेषता है औचित्य का वरण एवं निन्दा-प्रशंसा से विचलित हुए बिना सही मार्ग पर चलते जाना। इस कसौटी पर जो क्षुरस्यधारा के समान है, खरे उतरना हर किसी के लिए सहज नहीं है।

अनुशासनं परैरेव द्रष्टव्यं भवतीति यः।

पालयेत्पूज्यते स तु निन्दते य उपेक्षकः ॥ ५२ ॥

अन्तरंगोऽनुबन्धस्तु ज्ञानं तस्यात्मनो भवेत्।

तपसा तेन स्वात्मैव बलिष्ठो जायते ध्रुवम् ॥ ५३ ॥

व्यक्तित्वं स्वं समुदगच्छेत् संतोषोल्लासयोरपि।

प्राप्तिर्भवति सोऽयं चानुबन्धो व्रतधारणम् ॥ ५४ ॥

दुर्विचारपरित्यागसद्विचाराप्तिरेव च।

अनुबन्धो बुधैः प्रोक्तः संस्कर्ता यो नृणामिह ॥ ५५ ॥

टीका—अनुशासन दूसरों को दीख पड़ता है। पालन करने वालों की प्रशंसा और तोड़ने वालों की निन्दा होती है, अनुबन्ध अन्तरंग होता है। उसकी जानकारी अपने को ही रहती है। उस तपश्चर्या से अपनी ही आत्मा बलिष्ठ होती है अपना ही व्यक्तित्व उभरता है और अपने को ही संतोष उल्लास की प्राप्ति होती है। अनुबन्ध व्रत धारण को कहते हैं। मात्र श्रेष्ठ विचारों को अपनाना, बुरे विचारों का मनःक्षेत्र में प्रवेश करते समय उन्हें खदेड़ भगाना अनुबन्ध है, जो मनुष्यों को सुसंस्कृत बनाता है ॥ ५२-५५ ॥

अनावेशस्थितिर्बुद्धेः सदा सन्तुलनं तथा।

शुभाशुभोक्तौ शान्त्या स विचारः पर्यवेक्षणम् ॥ ५६ ॥

पक्षस्यास्य विपक्षस्य कृत्वा निष्पक्षभावतः।

न्यायावाप्तिरिह प्रोक्तं शीलं सर्वसुखाकरः ॥ ५७ ॥

टीका—आवेश में न आना, संतुलन बनाए रहना, भले-बुरे कथन पर शांतिपूर्वक विचार करना और पक्ष-विपक्ष का पर्यवेक्षण करते हुए किसी निष्पक्ष न्याय-निष्कर्ष पर पहुँचना शील है जो समस्त सुखों का खजाना है ॥ ५६-५७ ॥

कृत्यान्ववाञ्छनीयानि भ्रमविस्मृतिकारणात्।

जायन्तेऽत्र बहून्येवं दुर्बुद्ध्याऽपि तथैव च ॥ ५८ ॥

भिन्नतामुभयोः कुर्वन्ननुरूपेण शोधितुम्।

यत्नो यो धैर्यमाहुस्तं सर्वाण्येतानि संति च ॥ ५९ ॥

टीका—कितने ही अवांछनीय कृत्य भूल या भ्रमवश बन पड़ते हैं, कई जान बूझकर दुष्ट बुद्धि से होते हैं। दोनों में अंतर करते हुए तदनुरूप सुधार का प्रयत्न करना धैर्य कहलाता है। यह सभी व्रत अनुबन्ध हैं ॥ ५८-५९ ॥

व्याख्या—अनुबन्ध की, जो आंतरिक अनुशासन का ही दूसरा नाम है, परिधि बड़ी विस्तृत है। यह एक प्रकार का व्रत बंधन है, जिसमें आंतरिक पुरुषार्थ के माध्यम से आत्मावलोकन पर्यवेक्षण कर अपने दोष-दुर्गुण मिटाकर चिंतन को दिशा दी जाती है। यह एक समयसाध्य प्रक्रिया है। कभी-कभी व्यक्ति दुर्बुद्धिवश ऐसे कृत्य कर बैठता है जो मर्यादा लाँघ जाते हैं। इन पर कड़ी दृष्टि अनिवार्य है। इन पर रोकथाम लगाकर शील को निभाना एक बहुत बड़ा आत्मिक पुरुषार्थ है।

व्रतानुबन्धनामानि मानवोत्कर्षहेतवः।

सदा व्यसनराहित्यं स्वभावोऽयोग्य एष यः ॥ ६० ॥

तदधीनानां परिज्ञानं तेषां त्यागः शनैः शनैः।

एकवारेण वाऽप्येषा कथिता व्रतशीलता ॥ ६१ ॥

टीका—व्रत और अनुबन्ध ही मानव उत्कर्ष के हेतु हैं। दुर्व्यसनों से बचे रहना, जो अनुपयुक्त आदतें स्वभाव का अंग बन गई हैं, उनकी हानियों को समझना और एक बारगी अथवा धीरे-धीरे छोड़ने में लग पड़ना व्रतशीलता है ॥ ६०-६१ ॥

व्याख्या—व्रतों से जुड़कर ही व्यक्ति ऊँचा उठ पाता है। संकल्पबद्ध हो जाने पर पुरुषार्थ पूरे मनोयोग से उस दिशा में नियोजित हो जाता है। जो भी अवांछनीय है उससे बचना जितना जरूरी है, उतना ही सत्प्रवृत्तियों से जुड़ना भी।

अविकासस्थिता याश्च सत्प्रवृत्तय उन्नतान्।

तासां बीजांकुरान् कर्तुं लग्नतोत्साहिनस्तु या ॥ ६२ ॥

टीका—जो सत्प्रवृत्तियाँ अभी विकसित नहीं हो पाई हैं उनके बीजांकुरों को अंकुरित पल्लावित करने में उत्साहपूर्वक लग पड़ना अनुबन्ध है ॥ ६२ ॥

२.३४ प्रज्ञोपनिषद्

व्याख्या—संकल्प अकेले ही पर्याप्त नहीं। उन्हें खाद-पानी देना भी जरूरी है। यह तभी संभव है जब मनुष्य सत्प्रवृत्तियों के जीवन में समावेश हेतु तत्परता से जुट पड़ता है।

अनुबन्धः समाख्यातो गुणकर्मस्वभावके।

क्षेत्रे सत्प्रवृत्तिमात्राणां वर्धनस्य मनः स्थितिः ॥ ६३ ॥

दुष्प्रवृत्तिः सदा सर्वस्तराः शीघ्रतयैव ताः।

दूरीकर्तुं च सोत्साहं तत्परत्वमपीह च ॥ ६४ ॥

टीका—गुण-कर्म-स्वभाव के क्षेत्र में मात्र सत्प्रवृत्तियों को ही पनपने बढ़ने देना चाहिए। दुष्प्रवृत्तियाँ जब भी जिस स्तर की भी उगती दीखें, उन्हें सहन न करना, अविलंब उखाड़ फेंकने में तत्परता प्रकट करना अनुबंध है ॥ ६३-६४ ॥

व्याख्या—यदा-कदा पनप उठने वाली बुराइयों की बाढ़ की कटाई-छँटाई समय पर करते रहना बहुत जरूरी है। यह अनुबंध, अनुशासन, व्रतशीलता की परिभाषा में ही समाया एक ऐसा तथ्य है, जिसे हर व्यक्ति को सतत ध्यान में रखना चाहिए।

अन्विष्यन्ति कुसंस्कारान् सञ्चित्ताञ्जागृतात्मनः।

उत्पाटयन्ति ता मालाकारा इव तृणादिकम् ॥ ६५ ॥

उद्यानात्सततं व्यक्तेः स्वभावादात्मनोऽस्ति सा।

श्रेष्ठताया अभिव्यक्तिर्दृश्यते सज्जनाः सदा ॥ ६६ ॥

व्यक्ति का स्वभाव ही उसके बहिरंग व्यवहार में झलकता है। माली की तरह आदमी को आत्मिक क्षेत्र में सतत निराई-गुड़ाई कर सत्प्रवृत्तियाँ बढ़ाने का अभ्यास करते रहना चाहिए। यही वास्तविक पराक्रम है, जो मानव को देवमानव बनाता है।

सत्कर्माभिरता विज्ञा गुणवंतो भवन्ति ते।

प्रतिभाः क्षमतास्ते च वर्धयन्ति वरिष्ठताम् ॥ ६७ ॥

कुमार्गप्रस्थितानन्यान् वीक्ष्य नानुसरन्ति तान्।

न चाकृष्टा भवन्त्येते तैर्नैरनं प्रभाविताः ॥ ६८ ॥

परं मार्गं विनिर्मान्ति स्वयमेवात्मनः सदा।

निर्मान्ति श्रेष्ठतां स्वां तेऽक्षुण्णां संकल्पमात्रगाम् ॥ ६९ ॥

टीका—विज्ञान तो गुणवान भी होते हैं। वे अपनी क्षमता, प्रतिभा तथा वरिष्ठता का स्तर निरंतर बढ़ाते रहते हैं। दूसरे को कुमार्ग पर चलते देखकर, उनका अनुकरण नहीं करते, न उनसे प्रभावित आकर्षित होते हैं, वरन् अपना मार्ग आप बनाते हैं। अपनी श्रेष्ठता एकाकी संकल्प के आधार पर अक्षुण्ण रखते हैं। ६७-६९ ॥

व्याख्या—कहा गया है कि मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता आप ही है। इसका अर्थ यही है कि चुनाव की स्वतंत्रता को ध्यान में रखते हुए मनुष्य को औचित्य के पथ का ही अवलंबन लेना चाहिए। कोई और न मिले तो एकाकी पुरुषार्थ के बल

पर अपना ध्येय निर्धारित कर श्रेय पथ पर चल पड़ना चाहिए। महापुरुष लीक पर न चलकर, इसी कारण अपना मार्ग स्वयं बनाते एवं उत्कृष्टता का वरण कर प्रगति के चरम शिखर पर जा पहुँचते हैं।

एतादृशैर्नैरन्येऽसंख्या लोकाः प्रभाविताः।

जायन्तेऽनुसरन्त्येतान् भव्यान् मंगलरूपिणः ॥ ७० ॥

प्रभावयन्ति नो तांस्तु दुर्जना अपि तु स्वयम्।

स्वसौजन्यप्रभावेण कुर्वन्ते तान्स्वतोऽन्यथा ॥ ७१ ॥

टीका—ऐसे दृढ़ निश्चय मनुष्यों से अगणित लोग प्रभावित होते और अनुसरण करते हैं ऐसे मनुष्य भव्य मंगल स्वरूप होते हैं। दुर्जन उन्हें प्रभावित नहीं कर पाते, वरन् वे अपनी सज्जनता के प्रभाव से उन्हें ही बदलने में सफल होते हैं ॥ ७०-७१ ॥

खंडयन्ति व्रतं स्वं नो दृढसंकल्पसंयुताः।

संयोगात्खंडिते प्रायश्चित्तं ते कुर्वन्ते ध्रुवम् ॥ ७२ ॥

वृटौ कदाचिज्जातायां पातयन्ति मनोबलम्।

नैव तेऽपि तु द्वैगुण्यसाहसेन पुनस्तथा ॥ ७३ ॥

निश्चयं तं समादाय पुनः स्यान् व्रटिः क्वचित्।

अर्जयन्ति ततस्तत्र महत्तच्च मनोबलम् ॥ ७४ ॥

मालिन्यं चिंतनक्षेत्रसमुद्भूतं नरास्तु ये।

क्षालयन्ति जयन्त्यत्र विचारैस्तु विचारकान् ॥ ७५ ॥

चारित्र्यं न पतत्येषां भ्रष्टता चिंतने तु या।

दुष्टतायाः समावेशमाचारे कुरुते तु सा ॥ ७६ ॥

तथ्यमेतद् विजानन्ति रक्षन्त्यात्मानमत्र च।

अवाञ्छनीयताऽऽकर्षात्तैरेवात्मधनुर्धरैः ॥ ७७ ॥

प्रेम सत्सहयोगोऽपि चाप्यते परमात्मनः।

यतात्मा यो नरो नैव स पराजयते क्वचित् ॥ ७८ ॥

विश्वजेता स एवास्ति यतात्मा मानवस्तु यः।

बोधयन्ति नरं चैतत् पन्थानः शास्त्रदर्शिताः ॥ ७९ ॥

टीका—संकल्पवान अपना व्रत तोड़ने नहीं, संयोगवश कभी टूटे, तो उसका प्रायश्चित्त करते हैं। कभी कोई भूल होने पर मनोबल गिरने नहीं देते, वरन् दूने साहस के साथ फिर उस निश्चय पर आरूढ़ होते और भूल की पुनरावृत्ति न होने देने के लिए अधिक मनोबल जुटाते हैं। जो चिंतन क्षेत्र की मलीनता को धोता रहता है, कुविचारों को, सद्विचारों की सेना एकत्रित कर, परास्त करता रहता है। उसका चरित्र गिरने नहीं पाता। चिंतन की भ्रष्टता ही आचरण में दुष्टता का समावेश करती है, जो इस तथ्य को जानते और अवाञ्छनीयता के आकर्षण से आत्मरक्षा करते रहते हैं, उन आत्मिक क्षेत्र के धनुर्धरों को ही भगवान का सच्चा प्यार और सहयोग मिलता है। जिसने अपने को जीत लिया, वह और किसी से हारता नहीं। आत्मविजयी को ही विश्वविजेता कहते हैं। शास्त्रदर्शित

समस्त मार्ग मानवमात्र को यही बोध कराते हैं ॥ ७२-७९ ॥

व्याख्या—अनुशासन यही सिखाता है कि जो भी मन में सत्संकल्प रूपी बीज उठा, उसे पूरी तरह निष्ठा से निभाया जाए। ऐसी स्थिति में महामानवों के पास उनकी बहुमूल्य संपदा मनोबल ही सहायक बनती है। वे चरित्रनिष्ठा पर कड़ी दृष्टि रखते हैं एवं विचार को विचारों से काटकर अपने चिंतन को परिष्कृत बनाए रखते हैं। जिन्होंने इस प्रकार अपने भीतर वाले को सही कर लिया, अपने पर अंकुश लगा लिया, उसे सच्चे अर्थों में शूरवीर कहा जा सकता है।

धर्मानुशासनस्येदमनुबंधस्य विद्यते ।
द्वन्द्वं संस्कृतिशब्देन सभ्यतायाः पदेन च ॥ ८० ॥
व्यवहरन्ति जना अन्ये ययोर्योगान्निरुह्यते ।
नागरित्वस्य भावोऽयं तथा सामाजिकस्य सः ॥ ८१ ॥
ज्ञायते लोक एते च सदाचारस्य नामतः ।
व्यवहारस्य नाम्नाऽपि सतश्च यत्र तत्र तु ॥ ८२ ॥

टीका—यह धर्म का अनुशासन और अनुबंध वाला युगम है। कितने ही इसे सभ्यता और संस्कृति के नाम से, इसकी विवेचना करते हैं। दोनों के मिलने से नागरिकता और सामाजिकता निभती है। उन्हें सद्व्यवहार और सदाचार के नाम से भी जाना जाता है ॥ ८०-८२ ॥

कल्पनाया न धर्मोऽस्ति विषयः कथनस्य च ।
कथनं श्रवणं नैव पर्याप्तं त्वस्य सम्मतम् ॥ ८३ ॥
आगन्तव्यं तु धर्मेण निजाचारे तथा च सः ।
अंगतां दिनचर्याया नेतव्यो भूतिमिच्छता ॥ ८४ ॥
सार्थक्यमत्र तस्यास्ति स्थितौ चास्यां गतो नरः ।
धर्मात्मा वस्तुतस्त्वस्ति फलं प्राप्नोति पुण्यदम् ॥ ८५ ॥
यदुक्तं शास्त्रकारैस्तु कृते धर्मात्मनां नृणाम् ।
पारायणं न पुण्यं तत्पाठजं केवलं स्मृतम् ॥ ८६ ॥

टीका—धर्म कल्पना जल्पना का विषय नहीं। उसे आचरण में उतारा जाता है, दिव्यता की प्राप्ति के लिए उसे जीवनचर्या का अविच्छिन्न अंग बनाया जाता है। इसी में उसकी सार्थकता है। इसी स्थिति में पहुँचकर कोई सच्चे अर्थों में धर्मात्मा बनता है और वह पुण्य फल पाता है, जो धर्मात्माओं को मिलने की बात शास्त्रकारों ने कहीं है। पाठ रूप में, जो परायण दैनिक होता है, वह पुण्य नहीं है ॥ ८३-८६ ॥

जनैः सद्भिश्च तत्रत्यैः प्रखरत्वसमन्वयः ।
पूतत्वेन सह ज्ञातः सोऽनिवार्यतयाऽथ तैः ॥ ८७ ॥
विनयेनाथ सौजन्यभावेन सह च ध्रुवम् ।
अन्वभूवन्निदं सर्वे महत्ता - पथगामिभिः ॥ ८८ ॥
जीवने व्यक्तिके भाव्यमनुशासनवर्तिभिः ।
क्षेत्रे सामाजिके भाव्यं मर्यादानिष्ठतां गतैः ॥ ८९ ॥
ज्ञातः समागमोऽद्वैष उपयोग परः समैः ।
उपस्थिता जनाश्चास्य दिनस्यैतद् विवेचनम् ॥ ९० ॥
मत्वा विशेषरूपेण प्रभावपरिपूरितम् ।
प्रसन्नवदनाः सर्वे ययुः सत्र - विसर्जनात् ॥ ९१ ॥

टीका—उपस्थित संतजनो ने पवित्रता के साथ-साथ प्रखरता का समन्वय रहने की आवश्यकता समझी। मन्त्रता और सज्जनता के साथ इस बात की भी आवश्यकता अनुभव की कि महानता के पथ पर चलने वालों को व्यक्तिगत जीवन में अनुशासन प्रिय और सामाजिक क्षेत्र में उपयुक्त मर्यादाओं के परिपालन में निष्ठावान होना चाहिए। आज का समागम अतीव उपयोगी समझा गया। उपस्थितजन इस दिन के प्रवचन का विशेष प्रभाव लेकर, प्रसन्नचित हो विसर्जित हुए ॥ ८७-९१ ॥

॥ इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः युगदर्शनयुगसाधनाप्रकटीकरणयोः,

श्री आश्वलायन उद्दालक-ऋषिसंवादे अनुशासनोऽनुबंधः, इति प्रकरणो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥